उत्तराध्ययनसूत्र एवं 'भगवद्गीता' के परिप्रेक्ष्य में

वीतराग और स्थितप्रज्ञ : एक विश्लेषण

☐ धर्मचन्द जैन

'उत्तराध्ययनसूत्र' जैनदर्शन का प्रमुख आगम ग्रन्थ है तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' वैदिकदर्शन का प्रतिनिधि अध्यात्मग्रन्थ । दोनों ग्रन्थों में आध्यात्मिक संस्कृति एवं साधना का प्रतिपादन है । 'उत्तराध्ययनसूत्र' प्राकृत में निबद्ध है एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' संस्कृत में विरचित । एक निवृत्तिप्रधान है, दूसरा प्रवृत्तिप्रधान । गीता में कृष्ण अर्जुन को युद्ध कार्य करते रहने की शिक्षा देते हैं,[1] उत्तराध्ययन में अपने आप से युद्ध करने के लिए कहा गया है ।[2] गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग का विधान है, उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की साधना वर्णित है । दोनों ग्रन्थ भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के होते हुए भी, उनमें अनेक स्थानों पर साम्य है । गीता में जिस प्रकार आत्मा को अज, नित्य, शाश्वत, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य आदि कहा गया है[3] उसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी आत्मा की अविनश्वरता स्वीकार की गयी है एवं उसे इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाया गया है ।[4] गीता में पुनर्जन्म[5] के सिद्धान्त को जिस प्रकार स्वीकार किया गया है, उत्तराध्ययन में भी उसे उसी प्रकार स्थापित किया गया है ।[6] प्रस्तुत लेख में उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिपादित वीतराग एवं भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के स्वरूप में गर्भित साम्य एवं वैषम्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा रहा है ।

जैनदर्शन में वीतराग

जैनदर्शन में वीतराग शब्द का प्रयोग राग-द्वेषादि से रहित साधक के लिए किया जाता है । यह वीतरागता ग्यारहवें (उपशान्तमोहनीय) गुणस्थान से लेकर चौदहवें (अयोगि-केवली) गुणस्थान तक प्रकट होती है । इनमें ग्यारहवें गुणस्थान की वीतरागता मोहकर्म के उपशम होने से प्रकट होती है तथा शेष तीन गुणस्थानों की वीतरागता मोहकर्म के क्षय (सम्पूर्ण नाश) होने से प्रकट होती है । उपशान्तमोह गुणस्थान में प्रकट होने वाली वीतरागता अस्थायी होती है, क्योंकि इस गुणस्थान का साधक पुनः सराग हो जाता है किन्तु क्षीण-मोहनीय गुणस्थान में प्रकट होने वाली वीतरागता सदा के लिए हो जाती है । ऐसी वीतरागता-सम्पन्न वीतराग ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तरायकर्म का भी क्षय कर अरिहन्त बन जाता है, तथा अंत में चार अघाति कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र) का भी नाश कर सिद्ध (मुक्त) बन जाता है ।

मोहकर्म से राग-द्वेष का गहरा सम्बन्ध है । राग-द्वेष को पृथक् रूप से कर्मप्रकृतियों में नहीं गिना गया है । किन्तु जब तक मोह का उदय होता है, तब तक राग-द्वेष भी सत्ता पाते रहते हैं और मोहकर्म का नाश होते ही राग-द्वेष का भी नाश हो जाता है । जिसके

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग, द्वेष एवं मोह का नाश हो जाता है उसे ही वीतराग कहा जाता है। वीतराग शब्द में स्थित 'राग' से द्वेष एवं मोह आदि विकारों का भी उपलक्षण से ग्रहण हो जाता है।

व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से 'वीतराग' शब्द में बहुव्रीहि समास है। संस्कृत में समास-विग्रह होगा—'वीतः—अपगतः रागः यस्मात् स वीतरागः' अथवा 'वीतः नष्टः रागः यस्यासौ वीतरागः' अर्थात् जिसका राग नष्ट हो गया है वह वीतराग है। दिगम्बर जैन ग्रन्थ धवला [७] एवं लब्धिसार [८] में भी इसी प्रकार से विग्रह किया गया है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में वीतराग

उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन 'अप्रमाद स्थान' में वीतराग के स्वरूप का सरल किन्तु सारगर्भित निरूपण है। उसमें पाँच इन्द्रियों एवं एक मन के विषयों के प्रिय होने पर जो उनमें राग नहीं करता, तथा उनके अप्रिय होने पर द्वेष नहीं करता, अपितु सम रहता है उसे वीतराग कहा गया है, यथा—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ अ.३२ गा.२२.
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ३२/३५
घाणस्य गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ३२/४८
जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ३२/६१
कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ३२/७४
मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु, समो य जो तेसु स तु वीयरागो॥ ३२/८७

अर्थात् आँखों का विषय रूप है, मनोज्ञ (प्रिय) रूप राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप द्वेष का कारण होता है, जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/२२

कानों का विषय शब्द है, मनोज्ञ (प्रिय) शब्द राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) शब्द द्वेष का कारण होता है, जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/३५

नाक का विषय गंध है, मनोज्ञ (प्रिय) गंध राग का कारण होती है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) गंध द्वेष का कारण होती हैं; जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/४८

जीभ का विषय रस है, मनोज्ञ (प्रिय) रस राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष का कारण होता है, जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/६१

काया का विषय स्पर्शन है, मनोज्ञ (प्रिय) स्पर्श राग का कारण होता है तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रस द्वेष का कारण होता है; जो इन दोनों में सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन का विषय भाव (संकल्प-विकल्प) है, प्रिय भाव (संकल्प-विकल्प) राग का कारण होता है तथा अप्रिय भाव (संकल्प-विकल्प) द्वेष का कारण होता है; जो इनमें सम रहता है, वह वीतराग है। ३२/८७

उपर्युक्त गाथार्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वीतराग समता की प्रतिमूर्ति होता है। वह सुखद प्रतीत होने वाले विषयों, भोगों एवं कामवासनाओं के प्रति न राग करता है और न दुःखद प्रतीत होने वाले विषयों, भोगों एवं संकल्पों के प्रति द्वेष करता है। वह समतापूर्वक दोनों स्थितियों को देखता भर है। वह न अनुकूलता में सुखी होता है और न प्रतिकूलता में दुःखी। वह दुःख सुख से अतीत होकर समतापूर्वक उनको देखता रहता है। जो सुखद कामभोगों के प्रति राग करता है वह अपनी समता भङ्ग करता है, तथा जो दुःखद परिस्थितियों के प्रति द्वेष करता है अथवा उनसे दुःखी हो जाता है वह भी अपनी समता भङ्ग करता है। समता भङ्ग होने पर वह मोह से विमूढ़ हो जाता है। ऐसा पुरुष सदैव दुःख प्राप्त करता रहता है। वीतराग पुरुष दुःखों से रहित हो जाता है। दुःख के मूल कारण तो राग और द्वेष हैं। जो राग-द्वेष से रहित है वह दुःखों से भी रहित है। राग-द्वेष ही कर्मबन्धन के बीज हैं, जैसा कि कहा है—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥ उत्तरा० ३७/२

अर्थात् राग और द्वेष कर्म के बीज हैं, वह कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म एवं मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण दुःख हैं। मनुष्य पाँच इन्द्रियों एवं एक मन के माध्यम से सुखभोग करता रहता है। वह मधुर संगीत सुनकर हर्षित होता है, अनिंद्य सौन्दर्य को देखकर भोगने हेतु लालायित हो जाता है, शरीर को सुगन्धित करने हेतु अनेक प्रसाधन-सामग्रियों का प्रयोग करता है, जिह्वा को स्वाद देते रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा काया के स्पर्शनसुख के लिए भले-बुरे को भी भूल जाता है, मानसिक कल्पनाओं के सुख में दिवास्वप्न लेने लगता है। किन्तु ये सारे ऐन्द्रियक सुख मनुष्य को बेभान बनाते हैं, उसकी चेतना-शक्ति को आवृत करते हैं तथा विवेक को कुण्ठित बनाते हैं और मनुष्य में भ्रम विकसित कर देते हैं। उत्तराध्ययन में तो ऐन्द्रियक सुखों में तीव्र राग करने वाले का तत्काल विनाश कहा गया है, तथा द्वेष करने वाले को दुःखपरम्परा का जन्मदाता कहा गया है, यथा—

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं। ३३।२४
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं॥ ३२।२५

जो रूप में तीव्र गृद्धि (आसक्ति) करता है वह अकाल ही विनाश को प्राप्त करता है और जो तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण दुःख प्राप्त करता है। यहाँ पर रूप में आसक्ति करने की गाथा दी गयी है, किन्तु इसी प्रकार शब्द, रस, गंध, स्पर्श एवं विचार (भाव) में तीव्र आसक्ति (राग) करने वाला भी अकाल ही विनाश को प्राप्त करता है एवं इनमें द्वेष करने वाला दुःखी होता है। काम भोग किंपाक फल के समान मनोरम प्रतीत

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं,[9] किन्तु वे अनर्थ को जन्म देने वाले होते हैं—खाणी अणत्थाण हु काम-भोगा। काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष के समान हैं, जो कामभोगों (विषयभोगों) की इच्छा करता है, वह उन्हें भोगे विना भी दुर्गति को प्राप्त करता है।[10]

वीतराग कामभोगों में सुख नहीं मानता। वह उनमें दुःख भी नहीं मानता। क्योंकि कामभोग अथवा विषयभोग की सामग्री न समता पैदा करती है और न विषमता पैदा करती है, अपितु उनके प्रति अथवा भोगसामग्री के प्रति रहा हुआ राग एवं द्वेष ही मोह के कारण विकृति (विषमता) पैदा करता है, यथा—

ण कामभोगा समयं उवेंति, ण यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥ उत्तराध्य. ३२।१०१

(न कामभोग समता पैदा करते हैं, न विकृति पैदा करते हैं, जो उनके प्रति (भोग सामग्री के प्रति) प्रद्वेष करता है एवं परिग्रह (राग, आसक्ति) करता है वह उनमें मोह के कारण विकृति प्राप्त करता है। इसी तथ्य को भिन्न प्रकार से ऐसे कहा गया है—

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
ण तस्स सव्वेवि मणुण्णयं वा, णिव्वत्तयंति अमणुण्णयं वा ॥ ३२।१०६

इन्द्रियों के शब्दादि विषय, जितने भी है वे सब उस विरक्त (वीतराग) जीव के लिए मनोज्ञता एवं अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं कर सकते। रूपादि विषयों से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी दुःख-परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार जो इन्द्रिय एवं मन के विषय रागी मनुष्य के दुःख के कारण होते हैं वे वीतराग मनुष्य को कभी भी किंचित् भी दुःख उत्पन्न नहीं करते।

दुःख कामभोग की सामग्री से नहीं होता, अपितु उनमें रही हुई गृद्धता (आसक्ति, राग) से होता है। वह दुःख चाहे लोक के किसी भी प्राणी को क्यों न हो, सारा कामभोगों अथवा विषय भोगों में रही हुई आसक्ति (राग) से उत्पन्न होता है। वीतराग पुरुष समस्त दुःखों का अन्त कर देता है। यथा—

कामणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्ससदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ उत्तरा, ३२।१९

(देवलोक सहित सम्पूर्ण लोक में जो भी शारीरिक और मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं, वे काम भोगों में रही आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, वीतराग पुरुष उन दुःखों का अन्त कर देता है।)

वीतरागता की प्राप्ति होने का अर्थ है राग-द्वेष का नाश अथवा मोहकर्म का क्षय। मोहकर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय का भी क्षय हो जाता है, जैसे कि कहा है—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ णाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥ ३२।१०८

(वह वीतराग अशेष कार्य करके, क्षण भर में ही ज्ञानावरण का क्षय कर देता है तथा दर्शन का आवरण करने वाले कर्म एवं अंतराय कर्म का भी उसी प्रकार क्षय कर देता है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन चार घनघाति कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्ति (मोक्ष) सुनिश्चित है। मुक्ति का सुख अक्षय एवं अव्याबाध होता है। उस सुख का कभी नाश नहीं होता तथा पुनः दुःख नहीं आता। अतः उत्तराध्ययन में इसे एकान्तसुख शब्द दिया गया है—

रागस्स दोसस्स य संखएणं
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं।

राग एवं द्वेष का पूर्णतः (मूलतः) विनाश होने से वीतराग साधक मोक्ष रूप एकान्त-सुख को प्राप्त करता है।

वीतरागता

वीतराग की भाववाचक संज्ञा वीतरागता है। वीतराग की वीतरागता ही साधक का लक्ष्य होती है। वीतरागता की साधना से ही वीतराग बना जा सकता है। वीतरागता प्राप्त होती है राग-द्वेष-कषायों के त्याग से। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में प्रश्न किया गया है—कसायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ—हे भगवन्! कषाय का प्रत्याख्यान (त्याग) करने में जीव क्या लाभ प्राप्त करता है? तो भगवान् उत्तर देते हैं—कसायपच्चक्खाणेणं वीयराग-भावं जणयइ, वीयरागभावं पडिवण्णे वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।'[11] अर्थात् कषाय का प्रत्याख्यान (त्याग) करने से जीव वीतरागभाव को प्राप्त करता है। वीतराग भाव प्राप्त हो जाने पर जीव सुख दुःख में सम (समान) हो जाता है। वीतरागभाव की प्राप्ति से और भी अनेक लाभ होते हैं, उनको अधोलिखित प्रश्नोत्तर में स्पष्ट किया गया है—

वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणु-बंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुण्णामणुण्णेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ।[12]

हे भगवन्! वीतरागता से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान् उत्तर देते हैं—वीतरागता से जीव राग (स्नेह) के अनुबंधनों एवं तृष्णा के अनुबंधनों को काट देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंधादि से विरक्त हो जाता है।

वीतरागता का सहभावी परिणाम राग का विनाश होना है। प्राकृत में नेह (स्नेह) शब्द राग अथवा आसक्ति का पर्याय है। इनमें मोह विद्यमान रहता है। पुत्र, पौत्र, कलत्रादि के प्रति जो स्नेह होता है वह मोहरूप होता है। वीतरागता के साथ ही इस मोह का क्षय (विनाश) हो जाता है और मोह का नाश होते ही वैषयिक सुखभोग की तृष्णा (प्यास) भी समाप्त हो जाती है, वैषयिक सुखों के प्रति रागी अथवा मूढ (मोही) व्यक्ति का ही चित्त चलता है। निर्मोही व्यक्ति सुखभोग की तृष्णा से हीन, समभावी बन जाता है। कहा भी है—'मोहो हओ जस्स ण होइ तण्हा'।[13]

वीतरागता की साधना समता की साधना है। समता में जो स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती है, वह विषमचित्त में कदापि संभव नहीं। समता में शान्ति, स्वाधीनता एवं अव्याबाध सुख का अनुभव होता है, विषमता में विकारों की अग्नि धधकती रहती है, जो मनुष्य के विवेक का नाश करती है। समता में विवेक जाग्रत होता है, मिथ्यात्व का हनन होता है, सम्यकत्व की प्राप्ति होती है तथा मुक्ति (दुःख-मुक्ति) का अनुभव होता है।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थितप्रज्ञ एवं स्थितप्रज्ञता

'भगवद्गीता' में 'स्थितप्रज्ञ' का उतना ही महत्त्व है जितना 'प्रस्थानत्रयी' में गीता का। 'स्थितप्रज्ञ' वर्णन को गीता का हार्द कहा जा सकता है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का विग्रह होगा— 'स्थिता प्रज्ञा यस्य सः स्थितप्रज्ञः' अर्थात् जिसकी प्रज्ञा स्थित (स्थिर) है वह स्थितप्रज्ञ है। 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में स्थित शब्द जड़ता का सूचक नहीं, अपितु समता का सूचक प्रतीत होता है। यह गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से स्थितप्रज्ञ का स्वरूप समझने की जिज्ञासा प्रकट की तो श्रीकृष्ण ने इस प्रकार समझाया—

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। २।५५

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग—भय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। २।५६

हे अर्जुन ! जब साधक अपने मन में स्थित समस्त कामनाओं (भोगेच्छाओं) का त्याग कर देता है तथा अपने आप में संतुष्ट हो जाता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। २।५५

जिसका मन दुःखों (दुःखद स्थितियों) में उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों (सुखद स्थितियों) में उनको पाने की अभिलाषा नहीं रखता ऐसा राग, भय, एवं क्रोध से रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। २।५६

स्थितप्रज्ञ के उपर्युक्त लक्षण से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) वह (सुख-भोग की) कामना से रहित होता है (२) वह अपने आप में संतुष्ट रहता है (३) दुःख में उद्विग्न नहीं होता तथा सुख की अभिलाषा नहीं रखता अर्थात् दुःख एवं सुख में सम रहता है। (४) वह राग, भय एवं क्रोधादि विकारों से रहित होता है।

गीता में स्थितप्रज्ञ को स्थिरबुद्धि एवं स्थिरमति शब्दों से भी अभिहित किया गया है। स्थिरबुद्धि शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। गीता ५।२०

अर्थात् स्थिरबुद्धि, मनुष्य असंमूढ एवं ब्रह्मविद् होकर ब्रह्म में स्थित रहता है तथा प्रिय वस्तु को प्राप्त कर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता।

'स्थिरमति' शब्द का प्रयोग भी स्थितप्रज्ञ के समत्व लक्षण में किया गया है, यथा—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।। गीता १२/१८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।। गीता १२/१९

(शत्रु और मित्र के प्रति सम रहने वाला, सम्मान एवं अपमान में समान रहने वाला, शीत, उष्ण तथा सुख एवं दुःख में सङ्ग (आसक्ति) रहित होकर सम रहने वाला, निन्दा एवं प्रशंसा में सम रहने वाला, सर्वथा संतुष्ट रहने वाला मौनी संन्यासी स्थिरमति होता है तथा वह भक्तिसम्पन्न स्थिरमति मनुष्य मेरा प्रिय है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार स्थिरमति एवं स्थिरबुद्धि शब्दों का प्रयोग समत्वप्राप्त मनुष्य के अर्थ में किया गया है, स्थितप्रज्ञ का भी यही मुख्य लक्षण है कि वह सुख एवं दुःख के कारणों से प्रभावित नहीं होता। वह सुख में राग एवं दुःख में द्वेष नहीं करता। जैसा कि कहा है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता २/५७

जो सर्वत्र राग रहित (अनभिस्नेह) है, शुभ(प्रिय) वस्तु को प्राप्त कर उससे हर्षित नहीं होता तथा अशुभ (अप्रिय) वस्तु को प्राप्त कर उससे द्वेष नहीं करता, उसकी प्रज्ञा स्थित होती है अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ होता है।

मनुष्य स्थितप्रज्ञ कब बनता है अथवा उसकी प्रज्ञा स्थित (प्रतिष्ठित) कब होती है इसका निरूपण करते हुए गीता में कहा गया है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जब साधक अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों (रूपरसादि) से उसी प्रकार समेट लेता है, जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को चारों ओर से समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा स्थित होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो—'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'—गीता २/६१ अर्थात् जिसके वश में इन्द्रियाँ हैं उसकी प्रज्ञा स्थित है।

वीतराग और स्थितप्रज्ञ

वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ के स्वरूप एवं विशेषताओं पर विचार करने पर निम्नलिखित समानताएँ प्रतीत होती हैं—

१. समता

वीतराग का प्रमुख गुण है समता। वह मनोज्ञ (प्रिय) रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द एवं संकल्प-विकल्पों के प्रति राग नहीं करता तथा अमनोज्ञ (अप्रिय) रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द एवं संकल्प-विकल्पों के प्रति द्वेष नहीं करता। प्रिय एवं अप्रिय दोनों स्थितियों में वीतराग सम रहता है—समो य जो तेसु स वीयरागो।[१४]

स्थितप्रज्ञ में भी यह प्रमुख विशेषता है। वह भी वीतराग के सदृश सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय, जय, पराजय, लाभ, हानि आदि में समदर्शी होता है। गीता में प्रज्ञा के स्थित (प्रतिष्ठित) होने का अर्थ समता की प्राप्ति से ही है।

२. राग-द्वेषादिविकारविहीनता

वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ दोनों राग-द्वेष आदि विकारों से रहित होते हैं। राग को सब विकारों का मूल कहा जा सकता है। जहाँ राग है, वहाँ समस्त विकार (कषाय) विद्यमान हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कामगुणों में आसक्त (रागयुक्त) जीव में अन्य विकारों की उपस्थिति को इस प्रकार कहा है—

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुञ्छं अरइं रइं च।
हासं भयं सोग-पुमित्थिवेयं, णपुंसवेयं विविहे य भावे ॥ ३२/१०२

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवज्जइ एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अण्णे य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥ ३२/१०३

अर्थात् कामभोगों में आसक्त (रागयुक्त) जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और उसी प्रकार के अनेक भावों को एवं विविध रूपों को तथा इनसे उत्पन्न होने वाले अन्य अनेक विकार विशेषों को प्राप्त करता है। इस कारण से वह कायासक्त जीव करुणा-पात्र, लज्जित एवं द्वेष्य बन जाता है।

राग का नाश होते ही इन सब विकारों का विनाश हो जाता है। भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ को राग, भय एवं क्रोध से रहित बताया गया है—वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते। ये तीन विकार (दोष) उपलक्षण से तत्सदृश अन्य विकारों का भी ग्रहण कर लेते हैं। स्थितप्रज्ञ में भी वीतराग की भाँति राग-द्वेषादि विकारों का समूल नाश हो जाता है। जैसा कि कहा है—रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'[१५] इत्यादि।

३. विषयों से विमुखता

वीतराग पुरुष की पाँचों इन्द्रियाँ (कान, आँखें, नाक, जीभ एवं स्पर्शन) एवं मन विषय-भोगों की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। वह विषय-भोगों से विमुख हो जाता है। स्थितप्रज्ञ भी इन्द्रिय-विषयों से अपने आपको समेट लेता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन! जिसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों से पूर्णतः निगृहीत हैं उसकी प्रज्ञा स्थित होती है।[१६]

४. दुःख-नाश

वीतरागता की प्राप्ति के साथ ही दुःखों का विनाश हो जाता है। वीतराग के पास किसी भी प्रकार का दुःख नहीं फटकता। वह सर्वविध दुःखों का अंत कर देता है—जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।[१७] अर्थात् जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख होते हैं, वीतराग उन सबका अंत कर देता है। अन्यत्र उत्तराध्ययन में ही—ते चेव थोवं वि कयाइ दुक्खं, ण वीयरागस्स करेंति किंचि'[१८] कहकर वीतराग से दुःखों को दूर रख दिया है।

'स्थितप्रज्ञ' भी जब इन्द्रियनियंत्रण कर एवं आत्मवश्य होकर आचरण करता है तो वह प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है तथा प्रसाद प्राप्त करने पर सब दुःखों का विनाश हो जाता है, यथा—

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। गीता २/६४
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥ गीता २/६५

वीतराग एवं स्थितप्रज्ञ में कुछ अन्तर भी प्रतीत होता है। यह अन्तर निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. कर्म-क्षय

उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ वीतराग को मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय का क्षय करने वाला कह कर उसे कर्मक्षय की कसौटी पर परखा गया है वहाँ स्थितप्रज्ञ के साथ कर्मक्षय का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। जैनदर्शन के अनुसार आठ कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय) में सर्वप्रथम मोह का क्षय होते ही साधक वीतराग बन जाता है, तदनन्तर वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, एवं अंतराय कर्मों का क्षय करता है। अन्य चार कर्मों का एक साथ आयुकर्म के क्षय होते ही नाश हो जाता है और वीतराग मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[१९]

२. मोक्ष एवं ब्रह्मनिर्वाण

भगवद्गीता में समस्त कामनाओं के त्यागी स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। वह इस स्थिति को प्राप्त कर पुनः मोहित नहीं होता तथा इस स्थिति में स्थित रहकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[२०] उत्तराध्ययन सूत्र की शब्दावली में मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ वीतराग को चार घाति कर्मों का क्षय करने वाला कहकर आयुकर्म का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करने वाला प्रतिपादित किया गया है। गीता में ब्रह्मनिर्वाण के लिए आयुकर्म के क्षय की बात नहीं की गयी, जो कि उत्तराध्ययन सूत्र में की गई है।

३. एकान्त सुख

उत्तराध्ययन में राग एवं द्वेष का क्षय करने वाले वीतराग को एकान्तसुख (अव्याबाध-सुख, अक्षयसुख, अनन्तसुख) का प्राप्तकर्ता कहा है यथा—रागस्स दोसस्स य संखएण, एगन्त-सोक्खं समुवेइ मोक्खं।[२१]

बत्तीसवें अध्ययन में भी सब कर्मों से मुक्त होने पर उसे अत्यन्त सुखी बतलाया है—

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को
जं बाहइ सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥ ३२।११०

जो दुःख इस जीव को निरन्तर पीड़ित कर रहा है, उस समस्त दुःख से वह जीव मुक्त हो जाता है तथा दीर्घ कर्मरोग से मुक्त हुआ प्रशस्त जीव कृतार्थ होकर अत्यन्त सुखी हो जाता है।

भगवद्गीता में अत्यन्तसुख की बात नहीं कही गयी। वहाँ तो कामनाओं के त्यागने वाले निःस्पृह, निर्मम एवं निरंहकार साधक को केवल शान्ति प्राप्त करने वाला कहा है।[२२]

उपसंहार

भगवद्गीता में प्रतिपादित 'स्थितप्रज्ञ' एवं उत्तराध्ययन में प्रतिपादित 'वीतराग' दोनों भिन्न-भिन्न संस्कृति के आदर्श पुरुष हैं। दोनों राग-द्वेष का नाश कर विषय-भोगों से विमुख होते हैं, तथा सुखद एवं प्रिय वस्तु के प्रति न राग करते हैं और न ही दुःखद एवं अप्रिय वस्तु के प्रति द्वेष। दोनों समता की प्रतिमूर्ति हैं। दोनों अपने समस्त दुःखों का विनाश करने वाले हैं। उनका चित्त एवं इन्द्रियाँ उनके वश में रहती हैं, वे उनसे सुखभोग की इच्छा नहीं करते।

वीतराग की प्रज्ञा सम होती है तथा स्थितप्रज्ञ भी वीतराग होता है। फिर भी उनमें कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। वीतराग मोहकर्म का नाश होने से बनता है, तदनन्तर वह ज्ञानावरणादि अन्य तीन घातिकर्मों का क्षय कर अरिहन्त बन जाता है, तथा अंतिम समय में चार अघातिकर्मों का क्षयकर सिद्ध बन जाता है। स्थितप्रज्ञ का कर्मों से कोई सम्बन्ध

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है
Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

स्थापित नहीं है। वह ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। वीतराग में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख आदि गुण प्रकट होते हैं, स्थितप्रज्ञ में इनकी चर्चा नहीं मिलती। □□

संदर्भ—

१. नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।—भगवद्गीता ३।८
२. अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।—उत्तरा. ९।३५
३. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।—गीता २।२०
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। गीता २।२४
४. नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ णिच्चो॥—उत्तराध्ययन १४।१९
५. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ —गीता २।१३
६. एगया देवलोएसु, णरएसु वि एगया।
एगया आसुरे काये, अहाकम्मेहिं गच्छइ॥ —उत्तरा, ३।३
७. वीतो नष्टो रागो येषां ते वीतरागाः।
८. वीतोऽपगतो रागः संक्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतरागः।
—लब्धिसार। जी. प्र.। ३०४।३८४।१७
९. उत्तराध्ययनसूत्र १९।१८
१०. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं॥ उत्तरा. ९।५३
११. उत्तराध्ययन सूत्र २९।३६
१२. उत्तराध्ययन सूत्र २९।४५
१३. वही ३२।८
१४. वही ३२।२२,३५,४८,६१,७४,८७
१५. भगवद्गीता २।६४
१६. वही—तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २।६८
१७. उत्तराध्ययनसूत्र ३२।१९
१८. वही ३२।१००
१९. आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे। —उत्तरा. ३२।१०९
२०. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ गीता २।७२
२१. उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२
२२. विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरंहकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ —गीता २।७१

—टीचर फेलो, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org